International Journal of Geology, Agriculture and Environmental Sciences (peer reviewed journal)
Volume – 9 Issue – 1 January-June 2021 (Special Issue)
Website: www.woarjournals.org/IJGAES *ISSN: 2348-0254*

गुप्तोत्तर (1000 ई. तक की) राजस्व व्यवस्था

डॉ. रविन्द्र कुमार

सहायक आचार्य, इतिहास विभाग

महारानी बालिका पी. जी. महाविद्यालय,रामपुरा अलसीसर झुन्झुनूं

डॉ. धीरज कुमार

सहायक आचार्य, अतिथि

सेठ बुधमल दुगड राजकीय पी. जी. महाविद्यालय,सरदारशहर, चुरू

गुप्त राज्य का प्रारम्भ एक छोटे से प्रदेश से हुआ था, लेकिन समुद्रगुप्त जैसे यशस्वी सम्राटों ने अपने शौर्य से न केवल एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की बल्कि उसे कई शताब्दियों तक सुस्थिर और अक्षुण्ण बनाए रखने में समर्थ हुए। निश्चय ही इसकी पृष्ठभूमि में एक सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था थी। समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान से प्राप्त स्वर्ण, मुक्ता और मोती, कुषाणों की स्वर्ण मुद्राएँ, माण्डलिक राजाओ द्वारा भेट में प्राप्त अतुल सम्पदा, व्यापार और उद्योग की प्रगति और कृषि के विकास ने सुदृढ़ आर्थिक जीवन का मार्ग प्रशस्त किया।[1] तत्कालीन पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

इस काल की राजस्व व्यवस्था की जानकारी के लिए साहित्यिक कृतियों में **कालिदास की रचनाएँ** (मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ऋतुसंहार, मेघदूत, रघुवंश, कुमार संभव) विशाखदत्त का **मुद्राराक्षस,** वराहमिहिर की **वृहत्संहिता**, शूद्रक का **मृच्छकटिकम**, **अमरकोश,** वात्स्यायन का **कामसूत्र,** कामन्दक का **नीतिसार, नारद** एवं **बृहस्पति स्मृतियों** की गणना की जा सकती है। विदेशी लेखकों में **फाह्यान** का विवरण तथा गुप्तकालीन अभिलेखों से राजस्व व्यवस्था की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

प्रारम्भिक काल से ही राज्य की समृद्धि के लिए भरा हुआ राजकोष आवश्यक माना जाता था। इसलिए **कामंदक** का मानना है कि कोष शासकों का मूल है।[2] प्राचीन काल से आज तक राज्य कराधान से बँधे हुए है और सरकार के समस्त कार्य इस पर निर्भर करते हैं।

कर अदायगी का औचित्य

प्राचीन भारतीय ग्रन्थो में राजा द्वारा प्रजा से कर वसूलने के औचित्य के सम्बन्ध में अनेक कारण बताए गए है। प्रारम्भिक विधिवेता गौतम के अनुसार कर राजा द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा के बदले भुगतान किये जाते हैं।[3] जबकि नारद[4] के अनुसार शाही राजस्व, राजा को अपनी प्रजा की सुरक्षा के लिए प्राप्त प्रतिफल है। घोषाल[5] तथा अन्य विद्वानों के अनुसार प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में प्रतिपादित कराधान और सुरक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध कराधान के तथा कथित पारिश्रमिक सिद्धान्त का ही महत्वपूर्ण पूर्वाभास है। यह पारिश्रमिक सिद्धान्त सत्रहवीं–अठारहवीं शताब्दियों के पाश्चात्य राजनैतिक आचार्यों जैसे ग्रोरियस, पुफेंडोर्फ, हॉब्स, लॉक तथा रूसों के बीच व्यापक रूप से स्वीकृत हुआ। हालांकि केवल एडम स्मिथ से ही यह एक निश्चित आकार ग्रहण कर सका। **एडम स्मिथ** का मानना है कि ''प्रत्येक राज्य की प्रजा को सरकार की सहायता के लिए जहाँ तक सम्भव हो सके उस राजस्व के अनुपात में अंशदान करना चाहिए, जिसका उपभोग वे राज्य की छाया में करते हैं। किसी महान राष्ट्र के नागरिकों के प्रति सरकार का व्यय किसी भी बड़ी सम्पदा (इस्टेट) के संयुक्त स्वामी के व्यवस्था खर्च की तरह है जिसमें सभी को राज्य में अपने–अपने हित के अनुपात में अंशदान करना है।''[6] यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार कराधान राज्य द्वारा दी गई सुरक्षा की कीमत है और यह धारणा संविदा के सिद्धान्त की सहज पूरक प्रतीत होती है। हिन्दू विधि निर्माता भी यह बात सिद्ध करना चाहते हैं कि सिद्धान्ततः कर राजा द्वारा की गई सुरक्षा सेव के लिए प्रतिफल है, और स्पष्टतः इसका थोड़ा बहुत साम्य **एडम स्मिथ** के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के साथ है।

अन्यायपूर्ण करों की मनाही

गुप्तकालीन विधिवेत्ता भी यह भली–भांति जानते थे कि प्रजा से उतना ही कर लेना चाहिए जितना कि वह सरलता से दे सके। कामन्दक ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए एक माली और ग्वाले की उपमा दी है। जैसे माली पौधे में पानी देता है और फिर फूल तोड़ता है, और जिस प्रकार ग्वाला गायों की सेवा करता है, फिर उनका दूध निकालता है, उसी प्रकार राजा को प्रजा की रक्षा और सहायता करनी चाहिए, फिर उससे कर वसूलना चाहिए।[7] ऐसे ही विचार पंचतन्त्र में अंकित हैं कि जिस तरह पेड को बिना नुकसान पहुँचाए माली फल–फूल तोड़ लेता है, जिस तरह फूल को बिना क्षति पहुँचाए मधुमक्खी मधु चूस लेती है, उसी तरह प्रजा को बिना पीड़ित किए राजा को भी कर वसूलना चाहिए। बकरी को मारकर खाने वाला अधिक से अधिक शाम का भोजन पा सकता है, पर उसे अच्छी तरह खिलाने–पिलाने वाला कई वर्षो तक दूध पा सकता है।[8] लेकिन अमीर शाही अफसरों के मामले में जिन्होंने अनुचित साधनों से विशाल धन प्राप्त किया है, कॉमदक राजा को भिन्न सलाह देता है – इस प्रकार के मामलों में गैर कानूनी धन रखने वाले अपने अधिनस्थों का खून स्वतन्त्रता से बहाना चाहिए

जैसे एक सर्जन एक सूजे हुए फोड़े का खून बहाता है। इस प्रकार अनुचित लाभों से वे अपने राजा की इस प्रकार सहायता करते हैं, जैसे मनुष्य अग्नि की।[9] कालिदास ने भी इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। वह कहता है कि राजा प्रजा की भलाई के लिए ही प्रजा से कर वसूल करता है। राज्य के बजट को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि लोग हजारों तरीकों से इससे लाभ प्राप्त करें। सूर्य धरती से पानी खींचता है और वह उसको पुनः निर्माण वर्षा के रूप में हजार गुणा कर देता है। इस प्रकार राजा को भी सूर्य की भाँति कार्य करना चाहिए।[10] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अच्छे राजाओं ने अपनी राजकोषीय नीति में इन सिद्धान्तों को अपनाने का प्रयत्न किया। **कामन्दक और कालिदास के सिद्धान्त एडम स्मिथ से मिलते हैं,** जो कहते हैं कि प्रत्येक कर समय पर व उचित तरीकों से लगाये जाने चाहिए, ताकि करदाता के लिए इसे अदा करना सुविधाजनक हो।[11] ठीक इसी प्रकार **जान स्टुअर्ट मिल** भी कहते हैं कि कर में, सरकारी खर्चों द्वारा सुविधाओं का विभाजन, जो कि प्रत्येक व्यक्ति को दी जाती है, शामिल होती है, ताकि वह अपने हिस्से की कर अदायगी करने में न तो कम और न अधिक असुविधा महसूस करे।[12] इन्हीं सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए राजस्व को सभी के लाभ को ध्यान में रखते हुए शाही खजाने में इकट्ठा किया जाता था। सेना एवं कोष हमेशा से सरकार के मुख्य अंग रहे हैं। गुप्तकाल में हम मान सकते हैं कि शाही खजाना भरा हुआ था और सम्पन्न समय में ऐसा ही रहा, क्योंकि यह राज्य का महत्वपूर्ण अंग समझा जाता था।[13] कामंदक सुझाव देते हैं कि एक राजा को अपने खजाने का विशेष ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि राज्य का जीवन केवल इसी पर निर्भर करता है। उसे फिजूलखर्च नहीं करना चाहिए, बल्कि इस पर स्वयं नजर रखनी चाहिए।[14]

उपर्युक्त विवेचित सिद्धान्त हमारे कोरे सिद्धान्त ही नहीं रहे होंगे, इनका अनुमान गुप्तकालीन अनेक अभिलेखों से हो सकता है। ये अभिलेख बतलाते हैं कि शायद राजाओं ने विधि निर्माताओं के नियमों का सामान्यतः पालन किया और प्रजा के साथ निरंकुशतापूर्ण व्यवहार नहीं किया। गुप्तकाल में परिवाज्रक महाराज संक्षोत्र (518–19 ई.) के एक अभिलेख में उसके पिता महाराज हस्तिन का वर्णन एक ऐसे राजा के रूप में है जिसने अपने राज्य पर समुचित ढंग से शासन किया।[15] उसी तरह धरसेन द्वितीय में मलिय–ताम्रफलक (571–72 ईस्वी) में वल्लभी के मैत्रक राजवंशीय शासक द्रोणसिंह के विषय में वर्णन मिलता है कि उसके मनु तथा अन्य ऋषियों द्वारा प्रख्यापित नियमों तथा विधि को आदेशों के रूप में स्वीकृत किया।[16] उसी अभिलेख में मैत्रक वंशीय प्रसिद्ध शासक गुहसेन का वर्णन मिलता है। उसकी 'राजन' उपाधि उसे उपयुक्त थी, क्योंकि उसने स्मृति सम्मत नियमों के अनुसार अपनी प्रजा की समुचित सुरक्षा कर उनका हृदय रंजित (दिल को खुश) कर दिया।[17] इस तरह की बहुत सी चर्चाएँ उस वंश के अन्य अभिलेखों में उपलब्ध है। इससे यह ध्वनित होता है कि शायद मैत्रक शासकों ने विधि ग्रन्थों में उल्लिखित नियमों का पालन किया।

आय के साधन

इस काल की स्मृतियों में राजस्व के अनेक स्त्रोतों का वर्णन मिलता है। कामदंक ने राजस्व के आठ मार्गों की ओर संकेत किया है – कृषि, वणिक पथ, तयथा दुर्ग, सेतु, कुंजर बन्धन, खनिज, आकर और शून्य निवेशन[18] कामंदक का मानना है कि राजा की यह जिम्मेदारी होती है कि वह कोष में इतना धन रखे, जिससे श्रमिकों को उचित वेतन देने के बाद अन्य क्रियाओं को भी सम्पन्न कर सके।[19]

भू–राजस्व

पूर्ववर्ती कालों की भाँति इस काल में भी आय का मुख्य साधन भूमिकर था। कालिदास के अनुसार राजा भूमि की उपज का छठा भाग लेने का अधिकारी है।[20] परन्तु तपस्वियों से उनकी तपस्या के पुण्य का छठा भाग ही राजा का कर समझा जाता था।[21] नारद के अनुसार राजा प्रजा की रक्षा करने के बदले में उपज का छठा हिस्सा लेता है।[22] गुप्तकालीन अभिलेखों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि राजा साधारणतया उपज का छठा भाग ही राजस्व के रूप में लेता था।[23] परन्तु बृहस्पति के अनुसार राजा को भूमि की उपज के आधार पर अलग–अलग कर लेना चाहिए। उसके अनुसार राजा को परती भूमि से 1/10 भाग, वर्षा के जल से सींची जाने वाली भूमि से 1/8 भाग और जो फसल बंसत ऋतु में काटी जाती है उसका 1/6 भाग लेना चाहिए।[24] यह कहा जाता है कि चावल या उपज का छठा भाग जो साधुओं से लिया जाता था वह नदी के किनारे अधिकारियों के ले जाने के लिए रख दिया जाता था।[25] लेकिन राजा दुष्यन्त ने साधुओं से राजस्व स्वीकृत करने की बजाय केवल उनके धार्मिक कर्मों का 1/6 भाग स्वीकृत किया।[26] इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि शायद षष्ठांश की दर, सामान्यतः प्रचलित थी, हालांकि इसमें न्यूनाधिकता भी अवश्य ही स्वीकार्य रही होगी।[27]

निजी जोत क्षेत्रों पर राजस्व लेने की पुरानी प्रथा गुप्तकाल में भी प्रचलित प्रतीत होती है। इस काल के अभिलेखों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। आधुनिक इंदौर क्षेत्र से प्राप्त महाराज स्वामिदास (लगभग 386–387 ई.) तथा महाराज मुलुंड (लगभग 426–427 ई.) के दो शासन पत्रों से[28] ब्राह्मणों के पक्ष में भूमि के दान के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। चूँकि दान में व्यक्तिगत खेतिहरों के जोत–क्षेत्र ही दिये गये होंगे, इसलिए यह संकेत मिल सकता है की ग्रामीणों पर भू–राजस्व अलग–अलग निर्धारित किये जाते थे।

गुप्तकालीन अभिलेखों में राजस्व के लिए सबसे अधिक भाग, भोग और कर इन तीन शब्दों का उल्लेख मिलता है –

भाग – दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार अभिलेखों में उल्लेखित भाग शब्द का अर्थ उत्पादन में राजा का हिस्सा था।[29]

भोग – दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार भोग का अर्थ फल, फूल, दूध और ईंधन आदि थे, जो प्रजा समय–समय पर राजा को देती थी।[30] मेघातिथि और कुल्लूक ने भी भोग का यही अर्थ दिया है।[31]

कर – समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति में कर समान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[32] पुनः समुद्र गुप्त के अप्रामाणिक गया ताम्रफलक[33] में बताया गया है कि कर देने वाले (करद) कृषकों तथा शिल्पियों को दान में दिये गये एवं निश्चित ग्राम में नहीं बसने देना चाहिए। कर चुकाने वाले (करद) शिल्पियों के उल्लेख से यह संकेत मिल सकता है कि कर सभी प्रकार के करों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसमें कृषकों तथा शिल्पियों द्वार प्रदत्त कर भी शामिल है, उसी प्रकार भूमिदान–पत्रों में अकरदायी[34] का अर्थ वह व्यक्ति जो सामान्यतः सभी प्रकार के करों से मुक्त हो। अनुदान लेखों में **सर्वकर परिहारे**[35] या **सर्वकर समेत**[36] शब्दावली प्रयुक्त हुई है, जिसका साधारण अर्थ यह हो सकता है कि कर के अन्तर्गत सभी प्रकार के कर आ जाते थे। दूसरी ओर एक अभिलेख में[37] कर

भू–राजस्व (भाग) तथा भोग को छोड़कर सभी प्रकार के अभिदायों (कान्ट्रिब्यूशन्स) के अर्थ में हुआ है एक अन्य अभिलेख[38] में शुल्क, भाग भोग तथा हिरण्य इसमें शामिल नहीं है। स्मृतियों में कर का उल्लेख व्यापारियों के नाम पर लगे कर के अर्थ में भी किया गया है। जबकि **दिनेशचन्द्र सरकार** का मानना है कि अनाज के हिस्से के अतिरिक्त जो टैक्स किसानों को देना होता था उसे कर कहते थे।[39] **डी. एन. झा** इसकी भू–राजस्व की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[40] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कर दो अर्थ में प्रयुक्त होता था, एक भू–राजस्व के अतिरिक्त किसी विशिष्ट कर के अर्थ में जो समय–समय पर ग्रामवासियों से लिया जाता था और दूसरा सामूहिक कर के अर्थ में।

हिरण्य – गुप्कालीन कई अभिलेखों में हिरण्य शब्द प्रयुक्त किया गया है। विष्णु के अनुसार राजा को वस्तु के मूल्य का 1/50 भाग हिरण्य के रूप में लेना चाहिए। वाकाटक अभिलेखों में अनुदानग्राहियों को हिरण्य से मुक्त किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि इस काल में हिरण्य सरकार की आय का एक प्रमुख साधन था।[41] डी. सी. सरकार के अनुसार हिरण्य एक नकद कर था, जो सरकार को दिया जाता था।[42] जबकि **घोषाल** के अनुसार हिरण्य विशेष प्रकार की फसलों पर लगाया गया नकद कर था, जो साधारण फसल पर लगाए गए जिन्सी कर से भिन्न था।[43] इस प्रकार हिरण्य वाणिज्यिक फसलों (नकदी) पर लगाये जाने वाला कर रहा होगा।

उपरिकर उद्रंग – इस काल के अभिलेखों में सर्वप्रथम उद्रंग और उपरिकर का उल्लेख मिलता है। अभिलेखों में दोनों का उल्लेख प्रायः एक साथ हुआ है। घोषाल ने उद्रंग व उपरिकर को क्रमशः भूमि के स्थायी और अस्थायी पट्टेदारों पर लगने वाला कर माना है।[44] लेकिन अधिकतर विद्वान उद्रंग और उपरिकर के घोषाल के अर्थ से सहमत नहीं हैं। **बार्नेट** के अनुसार उपरिकर का आशय कृषि उत्पाद में राजा को देय भाग से हैं।[45] **डी. सी. सरकार** ने इसे अतिरिक्त कर माना है।[46] मैती[47] तथा पुष्पा नियोगी[48] ने राजतरंगिणी के साक्ष्य के आधार पर इसे पुलिस कर माना है जबकि **वी.पी. मिराशी** ने उद्रंग को भाग से और उपरिकर को भोग से समीकृत किया है, लेकिन किसी भी साक्ष्य में स्पष्ट जानकारी न होने के कारण इसका सही स्वरूप निश्चित करने का कोई भी प्रयत्न तब तक केवल अनुमानिक ही होगा जब तक कोई नया प्रमाण नहीं मिल जाता।

हलिकाकर – यह शब्द ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दी के अन्तिम तथा छठी शताब्दी के प्रारम्भिक काल में बखेल खण्ड क्षेत्र में शासन करने वाले उच्छकल्प शासक सर्वनाथ के केवल दो शासन–पत्रों में मिलता है।[49] **घोषाल** के अनुसार हलिकाकर हलों पर लगा कर था।[50] **मैती** के अनुसार हलिका कर का अर्थ एक हल द्वारा जोती जा सकने वाली जमीन पर लगा अतिरिक्त कर प्रतीत होता है।[51] लेकिन इस शब्द का सही अर्थ अनिश्चित प्रतीत होता है।

दित्य – त्रैकूटक नरेश व्याघ्रसेन के सूरत ताम्रफलक में लिखित दिव्य शब्द का शाब्दिक अर्थ है, वह जो देने के लिए है।[52] अभिलेखों में प्रयुक्त पदावली, सर्व दित्य विष्टि–परिहारेन है, जिसका अर्थ सभी प्रकार के बकायों तथा बेगार (विष्टि) से मुक्ति है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि दित्य बेगार को छोड़कर सभी प्रकार के करों के अर्थ में रहा होगा। अर्थात् दित्य का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता था।

धान्य – कुछ अभिलेखों में धान्य शब्द प्रयुक्त किया गया है, जिसका अर्थ है अनाज में राजा का हिस्सा।[53]

शुल्क – अमरकोश में चुंगी कर के लिए शुल्क शब्द मिलता है।[54] कुछ अभिलेखों में भी शुल्क का उल्लेख मिलता है।[55] स्कन्द गुप्त के बिहार प्रस्तर–लेख में शुल्क इकट्ठा करने वाले अधिकारी को **शौल्किक** कहा गया है।[56] इस अधिकारी की चर्चा मध्य भारत क्षेत्र से प्राप्त शायद छठी सदी ईस्वी के अन्तिम चरण के एक अभिलेख[57] में भी है। **फ्लीट**[58] के अनुसार शौल्किक शायद सीमा शुल्क तथा पथ–कर का तहसीलदार था, जिसका अर्थ है कि गुप्तकाल में शुल्क का प्रचलन था। **घोषाल** के अनुसार व्यापारियों पर लगाया जाने वाला कर शुल्क कहलाता था।[59] **मैती** अनुसार नगर के बन्दरगाहों पर व्यापारियों द्वारा कोई वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर शुल्क कहलाता था।[60] नारद ने व्यापारियों को परामर्श दिया है उन्हें राजा का कर अवश्य चुकाना चाहिए। यदि व्यापारी शुल्क न दे तो राजा को उससे शुल्क का आठ गुना जुर्माना के रूप में लेना चाहिए।[61] इसी प्रकार के नियम मनु[62] और याज्ञवल्क्य[63] ने दिये हैं। परन्तु नारद के अनुसार राजा को व्यापार करने वाले ब्राह्मणों से भी पुल की चुंगी नहीं लेनी चाहिए।[64] इस प्रकार पर्याप्त आँकडों के अभाव में शुल्क में उचित अर्थ का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, किन्तु इतना तो निश्चित है कि यह व्यापारियों तथा सौदागरों के पास से वसूल किया जाने वाला कर था, इसके अतिरिक्त अभिलेखो के साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि शुल्क, पश्चिमी, मध्य तथा पूर्वी भारत में प्रचलित रहा होगा।

बेगार (विष्टि) – गुप्तकाल में बेगार प्रथा का प्रचलन था। यह माना जाता था कि जो गरीब व्यक्ति नकद या धान्यादि के रूप में सरकार को कर नहीं दे सकते थे वे महिने में एक या दो दिन राज्य के लिए कार्य करते थे।[65] विष्टि करते समय वे राज्य से भोजन पाने के अधिकारी थे।[66] राजकीय अधिकारी जब गाँव के दौरे पर जाते थे, तब यह बेगार ली जाती थी।[67] अन्यथा स्थानीय अधिकारी गाँव या नगर के सार्वजनिक कार्यों में इनके श्रम का उपयोग करते थे। **मुद्राराक्षस**[68] से पता चलता है कि राज्याभिषेक जैसे अवसरों पर भी बेगार ली जाती थी, जो भी हो, शायद कोई निश्चित नियम नहीं था कि कब राजा बेगार लेगा, कब नहीं। ऐसी स्थिति में राजसत्ता के दुरूपयोग के लिए काफी गुंजाइश रह गयी थी। वात्सायन के **कामसूत्र**[69] से जानकारी मिलती है कि कृषक महिलाओं को विभिन्न प्रकार की बेगार के लिए बाध्य किया जाता था। जैसे ग्रामणी के अन्न भण्डार को भरना, सामान घर से बाहर–भीतर रखना, घर की सफाई आदि करना, खेत में काम करना, कपास, काठ, तीसी, गोटा (मंगजी) और धागा खरीदना तथा विभिन्न प्रकार की चीजों का क्रय–विक्रय और आदान–प्रदान करना। ऐसा प्रतीत होता है कि बेगार में सभी प्रकार के सम्भव कार्य सम्मिलित थे जिसके लिए किसी विशेष अवसर की आवश्यकता नहीं थी। **गुप्तकाल में बेगार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जहाँ मौर्यकाल में इसके लिए भुगतान होता था वहाँ गुप्तकाल में यह मुफ्त लिया जाने लगा।** इसके अतिरिक्त पूर्वकाल के विपरीत इसकी वसूली नियमित हो गई। इन्हीं कारणों से कालक्रम में विष्टि अत्यन्त पीड़ादायी हो गयी और **यही प्रथा मध्ययुगीन सामन्ती निरंकुशता की पूर्व पीठिका बनी।**

जुर्माना – राज्य को जुर्माने से बहुत आय होती थी। नारद और बृहस्पति ने किन अपराधों में सरकार को कितना जुर्माना लेना चाहिए इसका विस्तृत विवेचन किया है। गुप्तकालीन अभिलेख भी इसकी पुष्टि करते हैं।[70]

निखातनिधि (गुप्तनिधि) तथा धरोहर (उपनिधि)

सरकार को गुप्त निधि से भी बहुत आय होती थी। जखीरों के विषय में नारद ने लिखा है कि यदि जखीरा किसी ब्राह्मण को मिला हो तो राजा उस जखीरे को उसी ब्राह्मण को दे दे। यदि किसी अन्य वर्ण के व्यक्ति को मिला हो तो उस व्यक्ति को वह जखीरा राजा को दे देना चाहिए।[71] जब कोई निधि ब्राह्मण को मिले तो उसे भी राजा के सामने इसकी घोषणा करनी है। राजा द्वारा दिये जाने पर वह इसे ले जा सकता है।[72] ब्राह्मण द्वारा भी गुप्त निधि की प्राप्ति की घोषणा राजा के सामने की जाने से यह सिद्ध होता है कि उस निधि पर राजकीय अधिकार का प्रश्न पहले उठता था, पर जहाँ तक पाने वाले को षष्ठांश देने और निधि पर अपना दावा तथा स्वामित्व प्रमाणित करने वाले व्यक्ति की बात है नारद का नियम मौन है।[73] निखातनिधि और धरोहर (उपनिधि) पर राजकीय अधिकार की पुष्टि वाकाटक गुप्तकाल के अनेक भूमिदान पत्रों द्वारा भी होती है। उदाहरणार्थ वाकाटक भूमि शासन पत्र में हिताधिकारी को प्रदत्त विशेषाधिकारों की सूची में सनिधि तथा सोपनिधि का उल्लेख मिलता है।[74] इस काल में बहुसंख्यक अभिलेखों में इन शब्दों का अर्थ निखातनिधि या धरोहर किया गया है। वाकाटक राजाओं के अभिलेखों में **क्लृप्त** और **उपक्लृप्त** शब्द भी मिलते हैं।[75] ये शब्द निधि या उपनिधि शब्दों के साथ आये हैं, जिसका अर्थ है जखीरा, इससे यह अनुमान होता है कि ये शब्द जखीरों में राजा के भाग के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[76]

आपातकालीन राजस्व – इस काल में आपातकालीन कर भी जारी रहा। विन्ध्यशक्ति द्वितीय[77] के बसिम फलक से जो ईस्वी सन् की चौथी सदी का माना जाता है, प्रणय माँगने की प्रथा प्रमाणित होती है, जो किसी भी समकालीन अभिलेख में चर्चित नहीं है। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि गुप्तकाल में आपातकालीन राजस्व का अपेक्षाकृत कम प्रचलन था।

राजकीय भूमि से आय – गुप्तकाल में बम्बई क्षेत्र के अमरोली जिले से प्राप्त ध्रुवसेन प्रथम के एक दानपत्र (525 ई.) में 'सीता' भूमि से एक सौ पादावर्त दान करने का उल्लेख है।[78] स्पष्ट है कि यहाँ सीता शब्द से राजभूमि की याद आती है जिसे कौटिल्य ने सीताध्यक्ष की देखरेख में रहने वाली भूमि कहा है। यद्यपि उत्तर भारत में किसी भी भूमिदान–पत्र में प्रत्यक्षतः राजभूमि का उल्लेख नहीं है, किन्तु बंगाल के ग्यारह शासन पत्रों से कुछ सूचनाएँ मिल सकती हैं, जिनमें भू–बिक्री की बात अंकित है।[79]

खानों एवं नमक की खुदाई से आय – अमरकोश में खान के लिए खणि तथा आकर पर्याय प्रयुक्त हुए हैं।[80] किन्तु उसके स्वामित्व के विषय में कोई सुराग नहीं मिलता। कामंदक[81] का मानना है कि खनन कार्य तथा खदान (खुली खान का) राज्य के राजस्व का स्रोत थी, पर वह उन पर राजकीय अधिकार की मात्रा के विषय में कोई संकेत नहीं देते। गुप्तकाल के साहित्यिक स्रोतों में रघुवंश[82] ही एकमात्र ग्रन्थ हैं, जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अन्य जीवों के साथ खान भी राजा का वेतन है। इसकी पुष्टि मध्यभारत के कई समकालीन भूमिदान–पत्रों से भी होती है। वाकाटक शासकों के लगभग सभी भूमिदान–पत्रों में अलवणकेण्णक्खानक[83] शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है कि दानग्रहिताओं को भूमि सहित खान दी जाती थी।[84] इससे यह भी ध्वनित हो सकता है कि सामान्यतः नमक की खानें राजा के स्वत्वाधिकार में रही होगी तथा भूमिदान के साथ उसका हस्तान्तरण दानग्रहिताओं को प्रदत्त एक विशेषाधिकार था।[85]

करों में छूट – विष्णु का परामर्श है कि राजा को ब्राह्मणों से कर नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वे राजा को धार्मिक कार्यों में कर चुकाते हैं।[86] नारद[87] के अनुसार सभी ब्राह्मण उतराई से मुक्त है वह पुनः कहते हैं कि ब्राह्मणों द्वारा प्राप्त भिक्षा पर कर नहीं लगाया जाना चाहिए। वाकाटक दान–पत्रों से यह जानकारी मिलती है कि राजा ने सभी राजस्व स्रोतों का अपना नियन्त्रण भी दे दिया। विन्ध्यशक्ति द्वितीय[88] के बसिम ताम्रफलक से भी राजवित्तीय रियायतों की पुष्टि होती है। कालिदास के **रघुवंश** में भी कहा गया है कि तपस्वियों की तपस्या को बाधाओं से तथा धन को डाकुओं से बचाने के कारण राजा को आश्रमवासियों के षष्ठांश तथा विभिन्न जातियों की क्षमता के अनुसार उनके पुण्य का उपभोक्ता बताया गया है।[89]

राजकीय व्यय – गुप्तकाल में आय का अधिकांश भाग राज कर्मचारियों को वेतन, सेना, राजदरबार, दान, धार्मिक एवं लोकहितकारी कार्यों तथा शिक्षा पर खर्च होता था। कालिदास के अनुसार गुप्त शासक प्रजा के कल्याण के लिए ही करों का संग्रह करते थे।[90] आपातकाल के लिए भी कुछ धन का संग्रह करके रखा जाता था; जिसे व्यय प्रत्यय कहा जाता था।[91] इस काल में कभी–कभी वेतन की जगह जागीरें दे दी जाती थी। परन्तु यह प्रथा इस काल में बहुत कम थी। फाहियान के अनुसार राजा के अंगरक्षकों को निश्चित वेतन दिया जाता था।[92]

शिवतत्त्वरत्नाकर के अनुसार राजकीय आय को चार भागों में बाँट कर एक भाग के स्थाई कोष में रखना चाहिए। शेष तीन भागों को जनता के कल्याण के लिए खर्च करना चाहिए।[93] कामंदक सम्भवतः गुप्तकालीन राजनीतिशास्त्र के लेखक थे इसलिए यह सम्भव है कि गुप्तकाल में राज्य की आय का 1/4 भाग संचित कोष में रखा जाता हो, जो किसी बड़ी आपत्ति के समय प्रजा की सुरक्षा और कल्याण के लिए खर्च किया जाता था।[94]

राजस्व प्रशासन – गुप्त शासकों ने न केवल राजस्व में वृद्धि के लिए विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, अपितु राजस्व विभाग को नियन्त्रित करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति भी की। गुप्तकाल में ग्राम निम्नतम प्रशासनिक इकाई थी। इसका प्रमुख ग्रामिक (ग्राम प्रधान) कहलाता था, लेकिन गुप्तकालीन अभिलेखों से ग्रामिक के कार्यों के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है। बुद्ध गुप्त[95] के शासन काल का एक अदिनांकित अभिलेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रामीक की भूमि के क्रय–विक्रय में महत्वपूर्ण भूमिका थी।

ग्राम प्रधान के अतिरिक्त इस काल में राजवित्तीय प्रशासन से सम्बन्धित कुछ अन्य अधिकारियों का भी उल्लेख मिलता है। कुमार गुप्त तथा बन्धुवर्मन के मन्दसौर स्तम्भ लेख में क्तृ (रचयिता) तथा लेखक (लिखने वाला) शब्द मिलते हैं।[96] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लेखक राजस्व प्रशासन से सम्बन्धित ग्राम पंजिकाओं का लेखा–जोखा करता होगा, अल्तेकर का भी मत है कि लेखक ग्राम का लेखाकार था।[97]

गुप्तकाल के अनेक अभिलेखों में **दिविरपति** शब्द मिलता है, जिसका अर्थ हिसाब–किताब रखने वाला अधिकारी किया गया है।[98] **बूलर** का भी मानना है कि दिविर का सम्बन्ध लेखन कार्य तथा हिसाब–किताब से था।[99] समुद्र गुप्त के पाँचवे वर्ष के अप्रमाणित नालन्दा ताम्रफलक अभिलेख में ग्राम–क्षमटलाधिकृत का उल्लेख मिलता है।[100] लेकिन विद्वानों ने इसे जाली माना है, लेकिन दक्षिण भारत में इसी काल में चन्द्रवर्मन के बौबिल्ही फलक से, जो पुरालिपि शास्त्र के अनुसार पाँचवी सदी के पूर्वाद्ध का माना जाता है। इस लेख को राजा के आदेश पर **देशाक्षपटलाधिकृत** रूद्रदत्त ने लिखा था।[101] इसके पदनाम से पता चलता है कि उसका पद अक्षपटलाधिकृत से बडा था। **डी. एन. झा** के अनुसार ग्रामक्षपटलिक सामान्यतया ग्राम स्तर पर कार्य करने वाला अभिलेखपाल था।[102]

इस काल में प्रवरसेन द्वितीय के इन्दौर ताम्रफलक अभिलेख में राजुक का इसके लेखक के रूप में उल्लेख मिलता है।[103] इसका अर्थ है कि वाकाटक राज्य में राजुक का एक कार्य भूमि हस्तान्तरण का विलेख (दस्तावेज) लिखना था। समुद्रगुप्त के अप्रामाणिक गया ताम्रफलक – अभिलेख[104] तथा स्कन्दगुप्त का बिहार प्रस्तर लेख[105] में आग्रहारिक नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है।

ईस्वी सन् की पाँचवी सदी के माने जाने वाले विजयसेन के मल्लसरूल अभिलेख में 'आग्रहारिक' भूमि–संत्यवहार (लेनदेन) से सम्बन्धित अधिकारी के रूप में उल्लिखित है।[106] आग्रहारिक के प्रशासनिक क्षेत्राधिकार का अनुमान समुद्रगुप्त के अप्रमाणिक गया ताम्रफलक से किया जा सकता है, इसमें कहा गया है– ''आग्रहारिक दूसरे ग्राम के करदाता किसानों, शिल्पियों आदि को (बसने तथा धन्धा करने के उद्देश्य से) नहीं बसाया (क्योंकि) इससे निश्चित ही 'अग्रहार' के विशेषाधिकारों का हनन होगा।''[107] अग्रहारिक को दूसरे ग्राम के करदाताओं को अग्रहार–ग्राम में बसने की अनुमति नहीं देनी थी, क्योंकि इससे स्पष्टरूपेण राज्य की आय को क्षति पहुँचती थी। इस प्रकार यह कहना तर्कसंगत होगा कि यह अधिकारी दान में दिये कर–मुक्त ग्रामों का प्रभारी था, जिसका इन ग्रामों के राजवित्तीय तथा प्रशासनिक मामलों से मुख्य सम्बन्ध रहा होगा।

स्कन्दगुप्त के बिहार प्रस्तर–स्तम्भ लेख[108] में **शौल्किक** शब्द का प्रयोग मिलता है। अनेक मैत्रक शासनपत्रों में भी शौल्किक[109] का उल्लेख एक ऐसे अधिकारी के रूप में मिलता है जिसे भूमिदान की सूचना दी जाती थी। इनमें से किसी भी अभिलेख में शौल्किक के ठोस कर्त्तव्य तथा कृत्य की जानकारी नहीं मिलती है। लेकिन यह शब्द स्पष्ट रूप से शुल्क से व्युत्पन्न है, जो वाणिज्य कर की एक मद था। इसलिए फ्लीट ने शौल्किक को पथकर (राहदारी) तथा सीमाशुल्क (कस्टम) के अधीक्षक के रूप में वर्णित किया है।[110]

विजयसेन का मल्लसरूल ताम्रफलक अभिलेख में **औद्रंगिक** नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है।[111] यह शब्द स्पष्टतः उद्रंग से व्युत्पन्न है, जो इस विवेच्यकाल में राजस्व की महत्वपूर्ण मद थी। इसलिए औद्रंगिक शब्द से यही मालूम होता है कि वह या तो उद्रंग नामक कर को तहसीलनेवाला या उसका उपभोगाधिकार रखने वाला अधिकारी था।

विजयसेन के मल्लसरूल ताम्रफलक में हिरण्यसामुदायिक नामक एक महत्वपूर्ण अधिकारी का उल्लेख मिलता है। हिरण्य गुप्त काल में राजकीय आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत था। इसलिए यह शब्द हिरण्य वसूली से सम्बन्धित किसी अधिकारी का संकेतक हो सकता है। सामुदायिक शब्द स्पष्टतः समुदाय से व्युत्पन्न है, जिसके साथ हिरण्य शब्द के मिलने पर हिरण्य तथा वैसे ही दूसरे करों का बोध हो सकता है, इस प्रकार हिरण्यसामुदायिक का अर्थ वह अधिकारी हो सकता है, जिसे नकदी कर वसूल करने का कार्यभार सौंपा गया हो।[112]

मैत्रकों के शासन–पत्रों में ध्रुवाधिकरणिक नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है।[113] **डी. एन. झा** के अनुसार ध्रुवाधिकारणिक एक ऐसा अधिकारी रहा होगा जो राजा के समाहर्ताओं द्वारा न कि ठेके पर राजस्व वसूलने वालों द्वारा राजस्व की वसूली पर निगरानी रखता था।[114]

पूर्वी भारत के गुप्त–पुरालेखों में अष्टकुलाधिकरण नामक शब्द मिलता है। इस शब्द के अर्थ पर विद्वानों में काफी विवाद है, लेकिन **डी. एन. झा** का मानना है कि यह गुप्तकाल में प्रमुख अधिकारी था, जो राज्य वित्तीय अनियमितताओं से उत्पन्न विधिवादों (मुकदमों) का निर्णय करता था।[115]

गुप्तकाल के अनेक भूमि–विक्रय शासन–पत्रों में 'महत्तर' शब्द मिलता है। धनैदह ताम्रफलक अभिलेख में यह कहा गया है कि विष्णु से अन्त होने वाला नामधारी कोई व्यक्ति ग्राम के कुटुम्बियों, महत्तरों तथा अष्टकुलाधिकरण के पास पहुँचा और उनके समक्ष एक कुल्यवाप कृष्टभूमि खरीदने की इच्छा व्यक्त की।[116] बुद्धगुप्तकालीन दामोदरपुर ताम्रफलक अभिलेख में भी चंडग्राम के ब्राह्मणों तथा अन्य निवासियों को एक भू–खण्ड की बिक्री सूचना देने वाले महत्तरों तथा अन्य लोगों का वर्णन मिलता है।[117] इन अभिलेखों कि आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महत्तर प्रायः भूमि संव्यवहार से सम्बन्धित थे।

गुप्तकाल के अभिलेखों में आयुक्तों तथा विनियुक्तों का उल्लेख उन अधिकारियों की सूची में मिलता है, जिन्हें भूमिदान की सूचना दी जाती थी। गुप्तकाल में आयुक्त का सर्वप्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में मिलता है।[118] इसमें आयुक्त पुरुष का उल्लेख समुद्र गुप्त द्वारा पराजित विभिन्न राजाओं के धन को वापस करने के लिए नियुक्त अधिकारी के अर्थ में मिलता है। इस आधार पर **डी. सी. सरकार** ने अशोक के अभिलेख के युक्त की तरह आयुक्तपुरुष को कोषाधिकारी कहा है।[119] लेकिन यह अर्थ वहाँ उचित प्रतीत नहीं होता, जहाँ आयुक्तपुरुष के स्थान पर आयुक्तक का उल्लेख मिलता है। 479 ईस्वी के पहाड़पुर अभिलेख में आयुक्तक शब्द मिलता है।[120] इसमें कहा गया है कि नाथ शर्मा तथा उसकी पत्नी रामी ने पुँड्रवर्धन के आयुक्तक तथा नगर श्रेष्ठिन की अध्यक्षता वाली अधिष्ठानाधिकरण से निवेदन किया कि उस क्षेत्र में प्रचलित नियमानुसार उन्हें चार विभिन्न ग्रामों में फैली डेढ कुल्यवाप भूमि के बदले तीन दिनार जमा करने की अनुमति दे दी जाए।[121] इससे प्रतीत होता है कि आयुक्तक भूमि प्रशासन से सम्बन्धित अधिकारी था।

वाकाटक अभिलेखों में प्रायः सर्वाध्यक्ष नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है।[122] सर्वाध्यक्ष सरकार के सभी विभागों का निरीक्षण करता था और इसलिए राज वित्तीय प्रशासन पर भी थोडा निरीक्षणात्मक नियन्त्रण रखता था। उच्छकल्प राजाओं के अभिलेखों में प्रायः भोगिक शब्द मिलता है।[123] वैन्यगुप्त के गुनेगढ़ अभिलेख (507 ईस्वी) में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[124] गुप्तकालीन अभिलेखों में भोग राजकीय राजस्व की मद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः यह सम्भव है मूलतः भौगिक का कोई सम्बन्ध ''भोग'' की वसूली के साथ रहा हो।[125]

गुप्त अभिलेखों में दूतक शब्द मिलता है।[126] इसका यह अर्थ हो सकता है कि यह अधिकारी दानग्रहीता के पास शासन–पत्र नहीं ले जाता बल्कि स्थानीय अधिकारियों के पास राजा की स्वीकृति तथा आदेश ले जाता था, जिनका यह काम था कि शासन–पत्र लिखकर भूमि दान ग्रहीताओं के हवाले कर दे।[127]

गुप्तकालीन स्रोतों में ज्ञात उपरिक पद को सलेटोर ने राजवित्तीय शब्द उपरिकर से व्युत्पन्न माना है, जिसका कार्य कर वसूली से सम्बन्धित उत्तरदायित्व को ग्रहण करना था।[128] उपरिक की भाँति विषयपति भी गुप्तकाल में एक महत्वपूर्ण अधिकारी था। भूमिदान पत्रों में विषयपति का उल्लेख प्रायः भूमि की बिक्री के सम्बन्ध में हुआ है। दामोदरपुर अभिलेख की फलक संख्या एक तथा दो में कहा गया है कि कोटिवर्ष के विषयपति कुमारामात्य वेत्रवर्मन के पास

धार्मिक उद्देश्य से भूमि खरीदने के इच्छुक दो व्यक्ति पहुंचे। फलक संख्या पांच में बताया गया है कि अयोध्या के अमृतदेव नामक व्यक्ति ने प्रति कुल्यवाप तीन दिनार की दर से भूमि खरीदने की अनुमति पाने के लिए विषयपति स्वयंभू से निवेदन किया। इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि राज्याधिकृत कोई भी भूमि, सम्भवतः राजस्व की क्षति को ध्यान में रखकर, विषयपति की अनुमति के बिना बेची नहीं जा सकती थी। इसके अतिरिक्त विषयपति शायद विषय से काम करने वाले दूसरे राजस्व अधिकारी पर अपने प्राधिकार का प्रयोग करता था और इस तरह उसने एक ओर सम्राट या प्रान्तीय अभिशासक तथा दूसरी और निम्न श्रेणी के अधिकारियों के बीच एक कड़ी का काम किया होगा।[129]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गुप्तकाल में मौर्योतर काल के विपरीत राजस्व प्रशासन तन्त्र शायद बहुत अधिक विकसित था। यद्यपि इस काल के अधिकारियों के कर्त्तव्यों तथा कृत्यों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, फिर भी हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि इन अधिकारियों में से अधिकांश राजवित्तीय तथा भूमि प्रशासन से सम्बन्धित थे, और कुछ अधिकारियों को सामान्य निरीक्षण का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि राजस्व की वसूली भी अधिक सघन रूप में की जाती होगी और विशेषकर गुप्तकाल के बाद गिरती हुई राजकीय आय के संदर्भ में यह वस्तुतः बहुत महत्वपूर्ण है। गुप्तकाल में अधिकारियों की आनुवंशिक प्रवृति को बल मिला। कुमार गुप्त प्रथम के काल का करमदन्द प्रस्तर लेख में मंत्री शिखरस्वामी के पुत्र मंत्री पृथ्वीसेन का उल्लेख मिलता है।[130] उसी प्रकार वैशाली से प्राप्त एक मुद्रा में अमात्य भ्रद्रिक का उल्लेख मिलता है।[131] मध्यभारत से प्राप्त हस्तिन के कोह तथा मझगाँवाँ ताम्रफलक अभिलेख में एक ही परिवार के अधिकारियों की पांच पीढ़ियों का उल्लेख है, जिनमें पहला अमात्य, दूसरा और तीसरा भौगिक तथा चौथा और पांचवा महासन्धिविग्रहिक थे।[132] जयनाथ के दो तथा तीन पीढ़ियों के उदाहरण मिलते है।[133] गुप्तकाल में एक ही व्यक्ति में अनेक पदों को संयुक्त करने की प्रथा भी प्रचलित थी। इससे अधिकारियों ने और शक्ति तथा प्रभाव अर्जित कर लिया होगा, और इस तरह प्राप्त शक्तियों के सहारे ये अधिकारी अक्सर लोगों का शोषण, राजकोष में वृद्धि लाने की अपेक्षा, अपने व्यक्तिगत लाभ की ओर ध्यान देने लगे, होंगे। इस काल में अधिकारियों को जिन्सी भुगतान की प्रथा बड़े पैमाने पर प्रचलित थी, हालांकि किसी भी अभिलेखीय साक्ष्य में अधिकारियों को प्रशासनिक कार्यों के लिए भूमि (जागीर) दिये जाने का प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. दृष्टव्य, मैती, एस.के. इकनामिक लाईफ इन नोर्थ इण्डिया इन दी गुप्ता पीरियड, पृ. 1–190
2. कामंदक, XII, 33, पृ. 69
3. गौतम, X, 28
4. नारद, XVIII, 48
5. हि. के. सि. पृ. 273
6. एडम स्मिथ, दि वेल्थ ऑफ नेशन्स ई. कन्नन (सं.) न्यूयार्क, 1904, पृ. 310
7. कामन्दक नीतिसार 5/84
8. पंचतन्त्र 1, 242–3
9. कामन्दक, नीतिसार 5/85
10. रघुवंश 1, 18
11. स्मिथ, वेल्थ ऑफ नेशन्स वाल्यूम, II पृ. 311
12. मिल, पॉलिटिकल इकानॉमी, वोल्यूम प्प पृ. 366 (तीसरा संस्करण)
13. रघुवंश, 5.29
14. कामंदक 5.77, मनु 7, 65, रघु XVII, 60.81
15. कॉ.इ.ई. 3, संख्या 25, 8.9
16. वही, संख्या 11, 4–6
17. वही, 1.12.1.12
18. कामंदक V, 78–79
19. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग 13 श्लोक 31–32
20. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5, पृ. 29
21. वही 2, पृ. 850
22. नारद स्मृति 18/48
23. एपिग्राफी इण्डिका 21, पृ. 81, वही, पृ. 20, पृ. 23
24. राजनीति प्रकाश, चौखम्बा संस्कृति सीरिज, पृ. 262–263
25. रघुवंश, V.8 अभिज्ञानशाकुन्तलम् ii पृ. 850
26. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ii, पृ. 850
27. शासनपत्रों में कही भी प्रत्यक्ष रूप से गाँव से वसूले जाने वाले भूमि कर की दर का उल्लेख नहीं है, लेकिन अष्टभागिक तथा धर्म षड भाग जैसे शब्दों से इसका कुछ अप्रत्यक्ष ज्ञान होता है। झा.डी.एन. मौर्योत्तर तथा गुप्तकालीन राजस्व व्यवस्था, पृ. 49
28. ए.ई. 15, संख्या 16 (1,2)
29. सेल, इन्स, पृ 372 टि. 7, तुलनीय ए.ई. पृ. 293 एवं आगे मजूमदार हिस्ट्री ऑफ बंगाल 1, पृ. 277
30. सरकार सिलेक्ट इन्सिक्रप्शंस 1, पृ. 372, टिप्पणी 7
31. मेधातिथि और कुल्लूक मनु 8/207 की टीका में

32. कॉ. ई.ई. 3, संख्या 1, 1.22
33. वही, संख्या 60, 1.13
34. वही, संख्या 55, 1.26
35. एपि. इंडि. 24 सं. 9, पृ. 14
36. वही 23, सं. 18, पृ. 10
37. का.ई.ई. 3, संख्या 26, 1.9
38. ए.ई.संख्या 11, 1.15, वही 7,1.15
39. सरकार, सलेक्ट इस्क्रिप्शंस 1, पृ. 372, टिप्पणी 7
40. झा., डी.एन.मौर्योत्तर तथा गुप्तकालीन राजस्व व्यवस्था, पृ. 54
41. समुद्रगुप्त का जाली गया अभिलेख, फ्लीट पृ. 25
42. सरकार पूर्वोक्त, 1, पृ. 372
43. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 61
44. वही, पृ. 210
45. झा. पूर्वोद्धृत 1, पृ. 161
46. सरकार, पूर्वोद्धृत 1, पृ. 266
47. मैती इकनामिक लाइफ इन गुप्त दी गुप्त पीरियड, पृ. 85
48. पुष्पा नियोगी, कन्ट्रीब्यूशन टु इकानामिक हिस्ट्री, पृ. 187
49. 191 वर्ष का सोहवाल ताम्रपट्ट, ए.ई. 19, संख्या 21, 1.10, 197 वर्ष का कोह ताम्रपट्ट, का.इ.ई. 3, संख्या 30, 1.13
50. हि.रे.सि. पृ. 213
51. मैती, पूर्वोद्धृत, पृ. 63
52. ए.ई. 11, संख्या 21, 1.11
53. धनसेन द्वितीय का मालियाताप्रलेख फ्लीट, पृ. 196
54. अमरकोश, 8, 28, पृ. 181
55. प्रवरसेन द्वहितीय का सिवानी अभिलेख फ्लीट, 246, पृ. 19
56. फ्लीट, पृ. 50, पृ. 29 का.इ.इ., 3, संख्या 12, 1.29
57. विष्णुसेन का अधिकार पत्र, ए.इ. 30, संख्या 30, 1.2
58. कॉं., ई.इं., 3, पृ. 52, संख्या 3
59. घोषाल, हिस्टोरियोग्राफी, पृ. 177
60. मैती, इकनॉमिक लाइफ, पृ. 90
61. नारद, 3, 12, 13
62. मनु., 8,400
63. याज्ञवल्क्य 2,262
64. नारद 18,38
65. गौतम 2/1/31, मनुस्मृति 7/138, विष्णु स्मृति 3/32
66. गौतम धर्मसूत्र, 2/1/35
67. एपिग्राफी इण्डिका 3/266
68. मुद्राराक्षस अंक 2, दृश्य 2
69. कामसूत्र, 5, 55
70. प्रवरसेन द्वितीय का सिवानी लेख फ्लीट पृ. 247, पं. 34 प्रभावती गुप्ता का रिद्धपुर लेख। ज.ए.सो.बं.न्यू.सी. 20, पृ. 53
71. नारद, 7.6
72. वही, 7.7
73. तुलनीय ज. न्यू. सो. इ. 23, गोल्डन जुबिली अंक, पृ. 139, टि. 2
74. तुलनीय इ.ए. 2, पृ. 301; 19, पृ. 346
75. प्रवरसेन द्वितीय का सिवानी लेख, फ्लीट, पृ. 246, पृ. 30 प्रभावती गुप्ता का पूना लेख एपि. इंडि, 15, पृ. 42, पृ. 18
76. मैती, इकनामिक लाइफ, पृ. 95
77. सेल. इन्स. पृ. 409, 1.21
78. ए.इ. संख्या 39 (अ), 1.13
79. मैती, पूर्वोद्धृत, परिशिष्ट–2
80. अमरकोश, 2, 3.7
81. खन्याकरधनादानम् (अर्थात् खानों से भी धन की प्राप्ति), कॉंमदक, 5.78

82. रघुवंश, 17.66
83. ए.इ., 26, संख्या 20, 1.20
84. सेल इन्स, पृ. 194, 1.5
85. वही, पृ. 407, 1.24
86. विष्णु, 3.26–27
87. नारद, 18.36
88. ए.इं. 26, संख्या 20, 1.19–26
89. रघुवंश 17.65
90. रघुवंश, प्रजानामेव भूत्यर्थ से ताभ्यों बलिमग्रहीत
91. बृहस्पति, 28
92. ओमप्रकाश, प्रा.भा.ई.पृ. 27, 348
93. शित्तत्वरत्नाकर 6, 99–46 उद्धृत सत्यकेतु वही, पृ. 1
94. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ. 107
95. ए.ई. 15, संख्या 7 (3), 11.3–4
96. कॉ.ई.इं., 3, संख्या 18, 1.24
97. अल्तेकर, पूर्वोद्धृत, पृ. 12–13
98. विरजी, एन्शियेन्ट हिस्ट्री ऑफ सौराष्ट्र, पृ. 233
99. प्रकाश, 31, बुलर द्वारा उद्धृत, एडिशनल वल्लभी ग्रान्ट्स, इं.ए. पृ. 10
100 सेल. इन्स. पृ. 264, 1.11
101 ए.ई. 28, संख्या 8, 1.19
102 डी. एन. झा पूर्वोद्धृत, पृ. 15.8
103 ए.ई. 24, संख्या 10, 1.34
104 कॉ.इं.इं. 3, संख्या 60, 1.12
105 वही, संख्या 12, 1.29
106 ए.इं. 23, संख्या 24, 1.4
107 कॉ.इं.इं., 3, संख्या 60, 1.12–14
108 कॉ.इं.इं., 3, संख्या 12, 1.29
109 इं. ए.5, पृ. 207, ज.य.ब.4, पृ. 5, ए.इं. 30 संख्या 30, 1.2
110 कॉ.इं.इं. 3, पृ. 52, टि. 2
111 ए.ठं. 23, संख्या 24.1–4
112 हिस्टोरिकल आस्पेक्ट्स ऑफ द इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ बंगाल, पृ. 498, सेल. इन्स. पृ. 360 टि. 9
113 ए.इं. 11, संख्या 5, 1–22, कॉ.इ.ई., संख्या 38, 1.20 ई.ए. 5, पृ. 207, 6, पृ. 12 आदि
114 झा.डी.एन. पूर्वोद्धृत, पृ. 162
115 वही, पूर्वोद्धृत, 165
116 ए.इं.17, संख्या 23, 1.3
117 वही,15, संख्या 7 (3), 1.2
118 कॉ.इ.इं., 3, संख्या 1, 1.26
119 सेल. इन्स. पृ. 259, टि. 2
120 ए.ई. 20, संख्या 5, 1.1
121 वही, 11.3–6
122 ए.इ. 12, संख्या 27, 11.13–14, कॉ.इ.ई., 3, संख्या 55, 11.21–22
123 वही, 3 संख्या 21, 1.21, संख्या 22, 1.29 संख्या 23. 1.19, संख्या 26, 1.23 आदि
124 सेल. इन्स. पृ. 334, 1.17
125 तुलनीय सेन पूर्वोद्धृत, पृ. 556
126 इं. ए. 9, पृ. 167, 168, 170 इत्यादि
127 कॉ.इ.ई., 3, पृ. 100, टि. 3
128 पूर्वोद्धृत पृ. 260
129 झा.डी.एन., पूर्वोद्धृत, पृ. 177
130 ए.इ., 10, संख्या 15, 1.6–7
131 दीक्षितार, पूर्वोद्धृत, पृ. 150, आ.स.रि. 1913–14, पृ. 134, संख्या 210
132 कॉ.इ.ई., 3, संख्या 22, 11.18–20
133 वही, संख्या 27, 11.21–22, संख्या 26, 11.22–23